

शिक्षाक्रम की सैद्धांतिक पृष्ठभूमि

□ रोहित धनकर

पाठ्यक्रम पर चिंतन और संवाद शृंखला में हमने पाया कि शिक्षा दर्शन के ठोस परिप्रेक्ष्य और सैद्धांतिक पृष्ठभूमि के बिना सुसंगत और सार्थक पाठ्यक्रम की कल्पना मुश्किल है। 'शिक्षा-विमर्श' के पिछले अंक में राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद द्वारा राष्ट्रीय बहस के लिए जारी 'विद्यालयी शिक्षा के लिए पाठ्यक्रम दस्तावेज', पर रोहित धनकर का विश्लेषण आलेख छपा है। पाठ्यक्रम चिन्तन के क्रम में इस बार उनका वैकल्पिक विचार प्रस्तुत है। उन्होंने पाठ्यक्रम को शिक्षाक्रम कहा है। प्रस्तुत आलेख उनके द्वारा तैयार किये गये 'दिगन्तर शिक्षा प्रयोग के शिक्षाक्रम दस्तावेज' का आरंभिक अंश है। इसका अगला भाग हम आगामी अंक में छापेंगे।

शिक्षा से हम क्या समझते हैं तथा हमारे विचार से उसके उद्देश्य क्या होने चाहिये? इन दो बातों पर विचार किये बिना शिक्षाक्रम की कोई रूपरेखा बनाना संभव नहीं है। पर शिक्षा की अवधारणा व उसके उद्देश्यों की विवेचना, औचित्य स्थापित करना आदि मूलतः शिक्षा-दर्शन के विषय हैं। ये विषय जटिल हैं तथा इन पर कोई सर्वसम्मति बन पाना बहुत कठिन है। शायद इन्हीं कारणों से शिक्षाक्रम संबंधी दस्तावेज इन क्षेत्रों में कुछ उलझे-पुलझे से वक्तव्य देकर आगे बढ़ जाते हैं। हमें लगता है कि यह तरीका ठीक नहीं है। शिक्षा के उद्देश्यों की स्पष्ट व सुसंगत अभिव्यक्ति के बिना प्रस्तावित शिक्षाक्रम आधारहीन नुस्खे रह जाते हैं। पर जैसा कि ऊपर कहा गया है कि उद्देश्यों की सविस्तार विवेचना कर पाना भी शिक्षाक्रम के साथ संभव नहीं है। अतः यहां हम एक बीच का रास्ता अपना रहे हैं। हम शिक्षा के संबंध में हमारी मान्यताओं तथा शिक्षा के स्वीकृत उद्देश्यों का स्पष्ट उल्लेख करेंगे तथा उनकी औचित्य सिद्धि के लिए केवल संकेत भर देंगे।

1. शिक्षा व शिक्षा के उद्देश्य

शिक्षा मूलतः सीखने-सिखाने की प्रक्रिया का नाम है। पर न तो सीखने-सिखाने की विषय-वस्तु एक है, न ही किसी एक विषय-वस्तु को सिखाने की प्रक्रिया कोई एकमात्र होती है और न ही इनकी कोई समग्र सूची बनाना संभव है। इसलिए हम कह सकते हैं कि शिक्षा शब्द से सीखने-सिखाने की समग्र प्रक्रियाओं का बोध होता है अर्थात् हर सीखने-सिखाने की प्रक्रिया शिक्षा का हिस्सा है। पर इसमें भी बहुत से लोगों को आपत्ति होगी। वे शिक्षा में एक पुनीत या कहेँ वांछनीयता का भाव भी देखते हैं। अतः हर कुछ सिखाने की प्रक्रिया को वे शिक्षा का हिस्सा मानने को तैयार नहीं होंगे। जैसे बालकों को गाली-गलौच सिखाना या

चोरी करने की कला सिखाना। इन दोनों उदाहरणों में आपत्ति नैतिक आधारों पर होती है।

इसी प्रकार किसी को साइकिल चलाना सिखाकर क्या हम कह सकते हैं कि उसकी शिक्षा हो गई? साइकिल चलाना सिखाना शिक्षा का हिस्सा हो सकता है, इसमें तो शायद बहुत लोगों को आपत्ति न हो। यदि हो भी तो उसका निराकरण संभव लगता है। पर क्या मात्र साइकिल चलाना सिखाने में पूर्णता मानी जा सकती है? शायद कोई नहीं मानेगा। यह शिक्षा के विस्तार का सवाल है। अतः ऐसा लगता है कि सीखने-सिखाने की प्रक्रिया मात्र कह देने से काम नहीं चलेगा। उसके साथ वांछनीयता संबंधी तथा विस्तार संबंधी शर्तें भी जोड़नी पड़ेंगी। यहां मेरा आग्रह यह होगा कि हम इस स्तर पर शिक्षा से केवल इतना ही समझें कि वह सीखने-सिखाने की प्रक्रिया है। इसकी दिशा व विस्तार के प्रश्नों को शिक्षा के उद्देश्यों के निरूपण के साथ हल करें। क्योंकि अभी कुछ और जोड़ देना अविवेचित उद्देश्यों के प्रति प्रतिबद्धता होगी।

यहां हमने यह देखा है कि शिक्षा को सीखने-सिखाने की प्रक्रिया कह देने में ऐसा क्या नहीं कहा गया जो कहना चाहिये। और यह सुझाव भी है कि जो नहीं कहा गया है वह उद्देश्यों के निरूपण में कहने की कोशिश करें। अब यह भी देख लें कि शिक्षा को सीखने-सिखाने की प्रक्रिया कहने में क्या कहा गया है या यों कहें कि क्या सीमाएं बांध दी गई हैं। एक सीमा तो एकदम साफ ही है। सीखने-सिखाने की प्रक्रियाओं के अलावा जो भी प्रक्रियाएं हैं, वे मूलतः शिक्षा की प्रक्रियाएं नहीं हो सकती। किसी क्रियाकलाप को शिक्षा का हिस्सा कह देने के लिए यह आवश्यक है कि उसका उद्देश्य सीखना-सिखाना होना चाहिए। यह सही है कि मानव ऐसे क्रियाकलाप बहुत कम - शायद बिल्कुल नहीं - कर सकता है जिनमें कुछ भी सीखना न हो रहा हो। पर यहां हमें दो बातों का

ध्यान रखना होगा। एक, यदि किसी क्रियाकलाप का उद्देश्य - मुख्य उद्देश्य - सीखना-सिखाना नहीं है और सीखना उसमें केवल आकस्मिक ढंग से हो रहा है तो वह शिक्षा की प्रक्रिया नहीं है। जैसे पानी पीना। पर यही क्रियाकलाप - पानी पीना - सीखने की प्रक्रिया भी बन सकता है। मान लें की कोई बाल समूह कुएं के पानी व बरसात के पानी में स्वाद के अन्तर को समझने के लिए अलग-अलग रखे पात्रों में से पी-पी कर देख रहे हैं। तो यह सीखने की प्रक्रिया बन जाती है। ऐसे ही और बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी भी क्रियाकलाप को शैक्षणिक क्रियाकलाप कहने में उसके करने के उद्देश्य की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

सीखने-सिखाने की प्रक्रिया कह देने मात्र से कुछ और सीमाएं भी बंधती हैं। ये इस बात पर निर्भर करती हैं कि हम सीखना किसे कहते हैं। क्या बिना समझे किसी विचार को मन में स्थापित कर देना सीखना या सिखाना है? क्या किसी इंद्रिय संप्रेषण को किसी प्रतिक्रिया से अनुबंधित कर देना सिखाना है? यदि है तो किस स्तर तक? ये फिर ऐसे प्रश्न हैं जिन पर उद्देश्यों के साथ या उनके निरूपण के बाद विचार करना अधिक समीचीन होगा। अभी तक यह कहा गया है कि :

- शिक्षा सीखने-सिखाने की प्रक्रिया का नाम है।
- वे क्रियाकलाप शिक्षा का हिस्सा होते हैं जिनका मुख्य उद्देश्य सीखना या सिखाना हो।
- सभी कुछ सिखाना या जैसे चाहे वैसा सिखाना पारिभाषिक रूप से तार्किक ढंग से मान्य लग सकता है पर इस पर सीमाएं बांधनी होगी।
- ये सीमायें शिक्षा के उद्देश्यों के माध्यम से ही बांधी जा सकती हैं।
- कितना भर सिखा देने से शिक्षा हो गई माना जायेगा? इस प्रश्न का उत्तर भी उद्देश्यों के माध्यम से खोजना होगा।
- सीखना क्या है? सीखने में तथा मतारोपण में तथा सीखने में और अनुबंधन में क्या भेद है? या भेद ही नहीं है, यह भी आगे विचारणीय विषय होगा।

अब विवेचना को आगे बढ़ाने के लिए शिक्षा के उद्देश्यों पर विचार करना होगा।

शिक्षा के उद्देश्य क्या होने चाहियें? क्या हो सकते हैं? समाज में शिक्षण की आवश्यकता अनुभव की जाती है यह तो असंदिग्ध है। विद्यालय, महाविद्यालय और विश्वविद्यालयों की उपस्थिति इस बात का यथेष्ट प्रमाण है। पर सिखाने की यह

आवश्यकता क्यों अनुभव की जाती है? क्या सिखाने की आवश्यकता अनुभव की जाती है?

जीवन जहां भी होता है उसमें अपने आप को बनाए रखने की प्रवृत्ति पाई जाती है। हर जीवधारी स्वयं अपने जीवनकाल को सुदीर्घ करने का प्रयत्न करता है। साथ ही अपने जैसे अन्य जीवधारियों की उत्पत्ति का कारण भी बनता है। इतना तो संपूर्ण जीव जगत की प्रवृत्ति में है। पर जब आत्म-चेतना का प्रादुर्भाव होता है तो जीवन के बनाये रखने के साथ साथ एक और मूल प्रवृत्ति जुड़ जाती है। उसे हम अपने लिए संतोषजनक स्थिति के निर्माण की प्रवृत्ति कह सकते हैं। मानव भी जीना चाहता है और संतोषपूर्ण स्थितियों में जीना चाहता है। वह सतत रूप में इस बात के लिए प्रयत्नशील रहता है कि अपने लिए अधिकाधिक संतोषजनक स्थिति बना सके। यहां संतोष शब्द का उपयोग कुछ भिन्न अर्थों में किया गया है।

सामान्यतया हम जैसी स्थिति में हों उसी को श्रेष्ठ मानकर स्वीकार करने की भावना को संतोष का नाम दिया जाता है। कुछ भिन्न, अधिक सुखी कामना को तृष्णा कहा जाता है। यहां मैं संतोष शब्द का उपयोग दोनों के बीच की सी स्थिति के लिए कर रहा हूं।

मैं समझता हूं कि जीवन को बनाए रखने की प्रवृत्ति तथा संतोषजनक स्थिति के सृजन की प्रवृत्ति, इन्हीं दो मूल प्रवृत्तियों के कारण समाज का निर्माण हुआ, संस्कृति का उद्भव हुआ, संपूर्ण ज्ञान व कौशलों का विकास हुआ।

एकाकी जीवन मानव के लिए न सुरक्षित था न संतुष्टिदायक। अतः अन्य मानवों के सहयोग एवं सान्निध्य की आवश्यकता थी। सान्निध्य व सहयोग में आपसी व्यवहार तो निहित है ही। इस व्यवहार का एक दूसरे के जीवन पर प्रभाव व संतुष्टि के अधिकार की स्वीकृति से नियमन आरंभ हुआ। इसी से परंपरा, नैतिकता आदि का उद्भव हुआ और समाज बन गया। अधिकाधिक संतुष्टि की खोज में प्रकृति को जानना व कुछ हद तक नियंत्रित कर पाना आवश्यक हुआ। इसी प्रयत्न में नव कौशलों का विकास हुआ। पहले संतुष्टि मात्र पशु स्तर पर ही हो जाती थी। नैतिकता, ज्ञान व कौशलों ने नये क्षेत्र खोल दिये। सौंदर्यबोध, दूसरों की प्रशंसा की चाह, उदात्त भावनाओं आदि के विकास के कारण संस्कृति का विकास हुआ। इसी के चलते आज मानव ने एक जटिल, सुगठित तथा सुसंस्कृत समाज का निर्माण कर लिया है। इसी के नियमन के लिए संहितायें बनाई हैं। लम्बी चौड़ी परम्पराएं हैं। जानकारी व ज्ञान का अबाध भण्डार एकत्रित कर लिया है। कौशलों का बहुत उच्च स्तर तक विकास कर लिया है।

आज का मानव इस परिवेश में सुरक्षा और संतुष्टि चाहता है। अब मानव के लिए जीवन मात्र जीवित रहना नहीं, एक समाज में संतोषपूर्ण तरीके से जीना बन गया है। यहां तक कि इच्छित स्थिति की प्राप्ति न होने पर जानबूझ कर जीवन त्याग भी किया जाता है। दूसरे के लिए संतोषपूर्ण स्थिति बनाने के लिए भी अपने जीवन का त्याग इस समाज में संभव व आवश्यक होता है। आज के मानव को इसी समाज में चलने वाले विभिन्न क्रियाकलापों में हिस्सेदारी करनी पड़ती है।

पर इन क्रियाकलापों में ठीक से हिस्सेदारी के लिए इस संपूर्ण परिवेश की विस्तृत व गहरी समझ तथा बहुत से कौशल आवश्यक हैं। इनके बिना कोई भी मानव इस सांस्कृतिक/सामाजिक व्यापार में सक्रिय भूमिका नहीं निभा सकता। पर ये कौशल और यह समझ मानव में जन्मजात नहीं होती। कुछ बीजरूप क्षमतायें ही जन्मजात होती हैं। उन्हीं क्षमताओं को विकसित करके समझ और कौशलों का विकास किया जाता है। यही सीखना है।

इस जटिल और विभिन्न क्रियाकलापों वाले समाज के नियमन की भी आवश्यकता होती है। समाज के सदस्यों के आपसी व्यवहारों का नियमन, क्रियाकलापों के तरीकों का नियमन आदि सभी कुछ आवश्यक हैं। यह नियमन किन आधारों पर हो? कौन करे? सभी मानवों ने मिलकर इस सामाजिक-सांस्कृतिक जगत का निर्माण किया है। सभी इसमें सतत योगदान दे रहे हैं। सभी में जीवन की सुरक्षा और संतोष प्राप्ति की प्रवृत्ति समान रूप से है तो कोई एक या कुछ ही नियंता क्यों हों? सभी को नियंता व सभी को नियंत्रित होना पड़ेगा। कह सकते हैं कि यही मानवीय समता का सिद्धांत है। पहले ही कहा जा चुका है कि वर्तमान मानवीय समाज में सक्रिय भूमिका में नियंत्रण की भूमिका शामिल है तो समझ का महत्व और भी बढ़ जाता है। बहुत सी स्थितियों में चुनाव व उचित चुनाव के प्रश्न उठ खड़े होते हैं। यह सब मांग करता है विवेक की। कह सकते हैं नियमन का दूसरा आधार है विवेक।

इस विश्लेषण को स्वीकार करें तो निम्नलिखित कुछ बातें कह सकते हैं :

(क) मानव की दो जन्मजात प्रवृत्तियां महत्वपूर्ण हैं। उन्हें हम कुछ हद तक तराश तो सकते हैं पर मिटाना न संभव है न वांछनीय। अतः उन्हें मानव के दो मूल अधिकारों के रूप में स्वीकार कर सकते हैं।

1. जीवन की सुरक्षा की प्रवृत्ति तथा
2. जीवन में संतोषजनक स्थिति बनाने की प्रवृत्ति।

(ख) मानव एक समाज में ही रह सकता है। आज के समाज में सक्रिय भूमिका के लिए निम्न क्षमतायें आवश्यक हैं :

1. समझ एवं
2. कौशल।

(ग) मानवीय समाज के नियमन तथा उसके स्वरूप के निर्धारण आदि के लिए दो मूल आधार स्वीकार किये जा सकते हैं :

1. विवेक तथा
2. मानवीय समता।

(घ) मानव शिशु में समझ और कौशल जन्म से ही उस स्तर तक नहीं होते जिसकी समाज में सक्रिय भूमिका के लिए आवश्यकता होती है पर कुछ जन्मजात क्षमतायें होती हैं जिनके आधार पर समझ और कौशलों का आवश्यक स्तर तक विकास संभव है।

अब हम कह सकते हैं कि शिक्षा का व्यापक उद्देश्य शिक्षार्थी की ऐसी क्षमताओं के विकास को सुनिश्चित करना होना चाहिये जिनसे वह सामाजिक, सांस्कृतिक व भौतिक जगत में स्वनिर्देशित, उत्तरदायित्वपूर्ण तथा प्रभावी ढंग से विचार व कर्म कर सके।

शिक्षा के व्यापक उद्देश्य वास्तव में वह आधार होते हैं जिनसे उद्देश्यों की एक पूरी श्रृंखला निर्गमित होती है। अतः इनसे संबंधित वक्तव्यों में बहुत कुछ टूँसा हुआ होता है। साथ ही वे अपने नाम के अनुसार इतने व्यापक होते हैं कि अस्पष्ट से लगने लगते हैं। बहुत से लोग तो इन्हीं कारणों से व्यापक उद्देश्यों के वक्तव्यों से बचने का प्रयत्न करते हैं। पर कुछ उन का लोभ संवरण नहीं कर पाते। यहां यही स्थिति है। पर शायद यह अपराध क्षम्य हो सकता है यदि दिये गये, व्यापक उद्देश्य संबंधी वक्तव्य का स्पष्टीकरण भी कर दिया जाये। अतः आगे के कुछ अनुच्छेदों में यही प्रयास किया गया है।

उपरोक्त व्यापक उद्देश्य संबंधी वक्तव्य को हम छोटे टुकड़ों में तोड़ कर देख सकते हैं, कुछ इस प्रकार :

1. शिक्षा का उद्देश्य किन्हीं क्षमताओं के विकास को सुनिश्चित करना होना चाहिये।
2. ये क्षमतायें सांस्कृतिक-सामाजिक व भौतिक जगत में कर्म करने तथा इनके बारे में विचार करने में सहायक होनी चाहियें।
3. ये क्षमतायें ऐसी होनी चाहियें जो बिन्दु दो में इंगित कर्म व विचार में व्यक्ति को स्वनिर्देशित बनायें।
4. जो उसके कर्म व विचार को उत्तरदायित्वपूर्ण बनायें तथा

5. जो उसके कर्म व विचार को प्रभावी बनायें ।

इन सभी बिन्दुओं पर संक्षेप में कुछ विचार कर लें तो बात साफ हो जायेगी ।

1. पहला बिन्दु यह है कि शिक्षा का उद्देश्य क्षमताओं का विकास करना होना चाहिये । अर्थात् वे क्रियाकलाप जो किसी भी क्षमता के विकास में सहायक न हों और न ही क्षमताओं के विकास के लिए आवश्यक वातावरण बनाने में सहायक, शैक्षिक क्रियाकलाप नहीं हो सकते । उदाहरण के लिए बालकों को बिना काम किये चुपचाप कतारों में बैठा करके रखना शैक्षिक क्रियाकलाप नहीं है । साथ ही शिक्षा का उद्देश्य केवल क्षमताओं के विकास का प्रयत्न करना नहीं होना चाहिये, बल्कि क्षमताओं के विकास को सुनिश्चित करना होना चाहिये । यह ठीक है कि शिक्षक केवल प्रयत्न ही कर सकता है । पर सफलता-असफलता के आकलन में “प्रयत्न किया गया तो ठीक है” की स्थिति नहीं होनी चाहिये ।

2. दूसरी बात यह है कि शिक्षा के द्वारा विकसित की जाने वाली क्षमतायें वे हैं जो या तो कर्म में सहायक हों या फिर विचार करने में सहायक हों । यहां यह कहा जा सकता है कि यह तो ‘क्षमता’ कह देने में निहित ही है । क्षमता का अर्थ ही कुछ करने की सामर्थ्य होता है । फिर कर्म में, विचार में सहायक होने की शर्त अलग से लगाने की आवश्यकता ही क्या है ? वास्तव में यह इस बात पर निर्भर करता है कि हम कर्म से क्या समझते हैं । पर यहां इसके विस्तार में न जा कर इसे शिक्षाक्रम निर्माण के वक्त काम में लेने के लिए छोड़ देना ठीक रहेगा ।

भौतिक जगत में कर्म करने से अर्थ है उत्पादन, निर्माण, वस्तुओं के विस्थापन-वितरण आदि क्रियाकलापों में सक्रिय होना । सांस्कृतिक जगत में विचार और कर्म एक-दूसरे के सर्वाधिक निकट आ जाते हैं । अधिकतर विचार करना व उसकी अभिव्यक्ति मात्र ही सांस्कृतिक जगत में कर्म होता है । सामाजिक जगत में कर्म लोगों से रिश्ते बनाने से लेकर समाज के स्वरूप के बनाने व उसके बारे में निर्णय प्रक्रिया में भागीदारी तक सभी कुछ है ।

स्पष्ट ही यहां समग्र मानवीय क्षमताओं को समेटने का प्रयास है । शिक्षार्थी के कर्म व विचार की भूमि के विस्तार की एक झलक देने का प्रयास । जिससे शिक्षा से विकसित की जाने वाली क्षमतायें किसी संकुचित दायरे में न बंध जायें ।

3. तीसरी बात है विकसित की जाने वाली क्षमताओं का ऐसी होना जो विचार और कर्म में स्वनिर्देशित होने में सहायक हों । स्वनिर्देशित यानि स्व-विवेक-निर्देशित । स्व-विवेक निर्देशित होने में स्पष्ट तौर पर दो बातें दिखाई देती हैं । एक, कि कर्म व विचार कर्ता से बाहर किसी अन्य व्यक्ति द्वारा संचालित न हो । तथा दो,

वे मात्र सांयोगिक व अनियंत्रित ना हों, उनके पीछे विवेक का आधार हो । यदि मैं कोई काम किसी दूसरे के प्रभाव, भय, अतार्किक आकर्षण, भावनात्मक रूप से अभिभूत होकर करता हूं तथा मैंने उसके करणीय-अकरणीय होने के बारे में स्वयं अपने विवेक के अनुसार विवेचन नहीं किया है तो यह कर्म स्वनिर्देशित नहीं है । दूसरी बात, यदि मेरी मूलभूत मान्यतायें, जिनके आधार पर मैं उचित-अनुचित के निर्णय करता हूं समझ-बूझ कर, विवेचन करके स्वीकार की हुई नहीं हैं बल्कि अन्य प्रयत्नों से - अनुबंधन से या अवचारित रूप से मन में स्थापित करने से - ग्रहण की हुई हैं तो भी मैं कर्म और विचार में स्वनिर्देशित नहीं रह सकता । यहां न तो दूसरों से सीखने का विरोध है न दूसरों से विचार ग्रहण करने का विरोध है । बस मात्र एक शर्त लगाई गई है कि मान्यताओं की स्वीकृति व कर्म का चुनाव विवेक पर आधारित हो । विवेक से इतर जो अन्य कारण हैं, चाहे वे मेरे बाहर से हों या मेरे भीतर से, उन्हें अधिकाधिक विवेक के आधीन करने की बात है ।

जिस प्रकार दूसरों का प्रभाव मुझे विवेक के विरुद्ध आचरण के लिए विवश कर सकता है, वैसे ही मेरी अनियंत्रित इच्छायें, कामनायें, विद्वेष आदि भावनायें भी मुझे विवेक विरुद्ध आचरण के लिए विवश कर सकती हैं । स्वविवेक-निर्देशित होने का अर्थ है इन सभी प्रवृत्तियों को नियंत्रण में रखना ।

पर एक तो हम मानव हैं, दूसरे, अपनी क्षमतायें अन्य मानवों की मदद से प्राप्त करते हैं । अतः दूसरों के प्रभाव व अपनी कामनाओं/भावनाओं से पूर्णतया स्वतंत्र हम कभी नहीं हो सकते । अतः बात स्वनिर्देशन की क्षमता को उत्तरोत्तर बढ़ाते जाने की है । साथ ही एक न्यूनतम स्तर से ऊपर पहुंच जाने की है । स्वनिर्देशन की शर्त मानवीय समता के सिद्धांत से सीधी निर्गमित हैं । जब सभी समान हैं तो किसी दूसरे को मुझे निर्देशित करने का अधिकार नहीं है तथा अपने आप को प्रभावों से मुक्त रखना मेरा कर्तव्य है ।

4. चौथी बात यह है कि शिक्षा द्वारा विकसित की जाने वाली क्षमतायें ऐसी हों जो व्यक्ति को कर्म व विचार में उत्तरदायित्व पूर्ण बनायें । यह वास्तव में स्वनिर्देशन की पूरक शर्त है । पहले ही कह चुके हैं कि स्वनिर्देशन का अर्थ अनियंत्रित कर्म व चिंतन नहीं है । यहां अपने विचार व कर्म के प्रति जिम्मेदार होने की बात है । इस जिम्मेदारी के भी दो पहलू हो सकते हैं । एक, अपने कर्मों के सभी प्रभावों को सहन व स्वीकार करना तथा दूसरा, जिन कर्मों का दूसरों पर प्रभाव पड़ता है उनको, उभयनिष्ठ रूप से स्वीकृत मान्यताओं के आधार पर उचित सिद्ध करने की जिम्मेदारी ।

तीसरे और चौथे दोनों बिन्दुओं को मिला कर हम कह सकते हैं कि शिक्षा अपने विचार व कर्म में स्वनिर्देशित तथा उनके लिए

जिम्मेदार होने की क्षमताओं के विकास का प्रयत्न करती है। इसे स्वायत्तता व जिम्मेदारी भी कह सकते हैं।

5. पांचवीं बात है कर्मों व विचारों को प्रभावी बनाने वाली क्षमताओं की। जहां तक कर्म का सवाल है, उसका कोई ना कोई प्रभाव तो पड़ेगा ही। प्रभाव हुए बिना तो कर्म होगा ही नहीं। पर यहां 'प्रभावी कर्म' का अर्थ कुछ भिन्न है। कर्म किसी उद्देश्य को लेकर किया जाता है। यहां प्रभावी होने से अर्थ है कर्म का वह प्रभाव जो उद्देश्य प्राप्ति के नजदीक ले जाये। यदि कर्म करने के बाद भी उद्देश्य प्राप्ति की स्थिति कर्म करने से पूर्ववत् ही रहती है या उससे बदतर हो जाती है तो इस अर्थ में प्रभावी कर्म नहीं हुआ। सदी के दिनों में आपके कमरे को गर्म करने के लिए पंखा चला देना प्रभावी कर्म नहीं है, हीटर चला देना प्रभावी कर्म है।

अब प्रश्न यह उठता है कि वे कौनसी क्षमतायें हैं जो इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक हैं? मैं समझता हूँ कि ऊपर के स्पष्टीकरण तथा उससे पूर्ववर्ती भाग में भी ऐसे बहुत से संकेत हैं जो इस प्रश्न का उत्तर देने में सहायक हो सकते हैं।

हमने यह माना है कि व्यक्ति का कर्म में प्रवृत्त करने वाली दो मूल चीजें हैं: जीवन की सुरक्षा और संतोषजनक स्थिति के निर्माण की चाह। यह भी माना है कि उसे यह प्रयत्न मानवीय समाज में ही करने होंगे। इन प्रयत्नों में किये कर्मों के लिए वह उत्तरदायी होगा तथा कर्म करने में उसे स्वनिर्देशित भी रहना चाहिये।

बहुत सी चीजें एक साथ इस बात की तरफ संकेत करती हैं कि जिस जगत में व्यक्ति कर्म करेगा उसकी उसे समझ होनी चाहिये। यह जगत क्या है? कैसे संचालित होता है? किन परिस्थितियों में किन कर्मों के क्या परिणाम होते हैं? साथ ही उसके कर्मों का प्रभाव दूसरों पर पड़ेगा। उन दूसरों को भी अपने जीवन की सुरक्षा व अपने लिए संतोषपूर्ण स्थितियों के निर्माण का उतना ही अधिकार है जितना हमारे कर्ता को। अतः उसे अपने कर्म मात्र प्रभाविता से नहीं, औचित्य-अनौचित्य के मानदण्डों से भी संचालित करने होंगे। इस सारी पृष्ठभूमि में स्पष्ट ही समझ का विकास एक आवश्यक शर्त बन जाती है।

दूसरी तरफ कर्म की प्रभाविता भी एक तो समझ - भौतिक जगत की तथा लोगों के मानस की - पर निर्भर करती है तथा दूसरे पदार्थ को व यंत्रों को अपने अंगों - विशेष रूप से हाथों - से संचालन की कुशलता पर। इसे हम कौशल कह सकते हैं।

अतः हम शिक्षा के द्वारा विकसित की जाने वाली क्षमताओं को नाम देना चाहें तो कह सकते हैं कि वे समझ व कौशल हैं। समझ में ज्ञान, जानकारी, नैतिक मूल्य तथा सौंदर्य संबंधी मूल्य

समाहित हैं। कौशलों पर आगे विचार करेंगे पर मूलतः सभी दक्षताओं को इनमें समाहित मान रहे हैं।

ऊपर हमने शिक्षा के व्यापक उद्देश्य क्या होने चाहिये यह लिखा है। वहां व्यक्ति से अपेक्षाओं के रूप में लिखा गया है। उस व्यक्ति में जो क्षमतायें होनी चाहियें, उनकी शब्दावली में पुनर्कथन करें तो शिक्षा का व्यापक उद्देश्य होना चाहिये - समझ तथा कौशलों का विकास। अब यदि हम शिक्षा की कोई योजना बनाना चाहते हैं तो हमें यह देखना होगा कि समझ और कौशलों का क्या स्वरूप व क्या विस्तार है।

2. समझ और उसके स्वरूप

हम जिस जगत में विचरण करते हैं उसका पता हमें इन्द्रिय-संप्रेषणों से चलता है। इन्द्रिय संप्रेषणों के अलावा हमारे पास इसको जानने का कोई रास्ता नहीं है। न ही इस जगत के उपभोग का कोई और रास्ता है। जो इन्द्रिय संप्रेषण हमें मिलते हैं उनको हम व्यवस्थित करते जाते हैं। यह व्यवस्था उनकी अलग-अलग पहचान से आरंभ होती है। पहचान के आधार पर वर्गीकरण करते हैं। इन वर्गों के आधार पर हम जगत में चलने वाली विभिन्न प्रक्रियाओं में जो हमें इन्द्रिय संप्रेषणों के माध्यम से पता चलती हैं - समानता-असमानता, पूर्वापर संबंध, कार्य कारण संबंध, आदि बहुत प्रकार के संबंधों को देखते हैं। इस प्रकार जो वर्गों और संबंधों के ढांचे बना लेते हैं, यही जगत को समझना है। इस पूरे तंत्र को हम समझ का नाम दे सकते हैं। इन्द्रिय संप्रेषणों को विभिन्न वर्गों में हम उनमें कुछ गुणों की साम्यता के आधार पर ही बांट सकते हैं। उन साम्यताओं को वैचारिक स्तर पर तराश कर, परिशुद्ध करके, मापदण्डों के रूप में रख लेते हैं। इसी को दूसरे शब्दों में अवधारणायें बनाना कह सकते हैं। अतः हम समझ को अवधारणाओं व उनके बीच संबंधों के एक विशाल तंत्र के रूप में देख सकते हैं। एक तरह से यह बाहरी जगत का हमारे भीतर प्रतिबिम्ब बनाना है। हमारे लिए यह जगत की मानस सृजना है।

हम बाहरी जगत को इसी अवधारणा तंत्र के चश्मे से देखते हैं। एक तरह से कहा जा सकता है कि वास्तव में हम जिस जगत में विचरण करते हैं वह हमारा सृजित किया हुआ यह आन्तरिक जगत ही है। हमारे दुःख-सुख तथा संतोष-असंतोष बहुत हद तक इस समझ के चश्मे पर निर्भर करते हैं।

इस प्रकार सृजित-अर्जित समझ का उपयोग हम इन्द्रिय संप्रेषणों को व्याख्यायित करने में - प्राप्त संप्रेषण क्या है? क्यों है? - आदि प्रश्नों के उत्तर देने में करते हैं? दूसरा उपयोग संतोषजनक संप्रेषणों एवं स्थितियों के चुनाव व निर्माण में करते हैं।

इन उद्देश्यों के लिए प्रभावी उपयोग तभी हो सकता है जब हमारी समझ में कुछ क्षमतायें या गुण हों। एक तो बात व्याख्या करने की है; दूसरे संतोषजनक परिस्थितियों के निर्माण की। संतोषजनक परिस्थितियों का निर्माण प्राप्त संप्रेषणों के आधार पर भावी संप्रेषणों की ठीक कल्पना कर पाने पर निर्भर करता है। दूसरे बाहरी जगत में क्या परिवर्तन करने से कैसे संप्रेषण प्राप्त हो सकते हैं, यह कल्पना कर पाने की आवश्यकता है। साथ ही समझ में सतत् आत्मपरिष्कार की आवश्यकता रहती है। हम समझ का विकास प्राप्त अनुभवों के आधार पर करते हैं। एक तो समझ के विकास के साथ अनुभवों का स्वरूप अपने आप ही बनता रहता है, दूसरे बाहरी जगत पर हमारा पूर्ण नियंत्रण तो है नहीं। अतः समस्त भावी अनुभवों की कल्पना हम कभी नहीं कर सकते। इसलिए समझ में सतत् आत्मावलोकन व आत्मपरिष्कार उसके प्रभावी उपयोग के लिए आवश्यक शर्त हो जाती है। यह सब देखते हुए हम कह सकते हैं कि समझ में निम्न चार गुण होने आवश्यक हैं।

1. **सुस्पष्टता** - अवधारणाओं तथा उनके आपसी संबंधों के स्पष्ट विचार।
2. **सुसंगतता** - संबंधों के आपस में विरोधी विचार न बनें तथा आपस में विरोधी निष्कर्ष न निकलें।
3. **पूर्वानुमान की क्षमता** - जो है उस के आधार पर होने वाले की तार्किक

कल्पना

तथा उसमें जरूरत हो तो

आवश्यक परिवर्तनों के
विचार बना पाना।

4. आत्मावलोकन व आत्मपरिष्कार की क्षमता

यहां तक के विचार-विमर्श में हमने दूसरे समझवान प्राणियों की उपस्थिति पर विशेष ध्यान नहीं दिया है। जगत में हम अकेले तो नहीं होते। हमें अन्य लोगों से व्यवहार करना होता है। अतः समझ का उन तक संप्रेषण व उसके विकास में उनका सहयोग आवश्यक हो जाता है। दूसरों से संपर्क व संवाद बनते ही उपरोक्त चारों गुणों में एक आयाम और जुड़ जाता है। सुस्पष्टता केवल हमारे अपने संतोष की बात नहीं रह जाती। यह दूसरों को भी स्पष्ट लगनी चाहिए। इसी प्रकार हमारी समझ केवल आन्तरिक रूप से सुसंगत न होकर मानवीय समझ के संदर्भ में सुसंगत होनी चाहिये।

अर्थात् सुस्पष्टता व सुसंगतता व्यक्ति-परक न होकर सामुदायिक रूप से सांझे मानदण्डों के आधार पर होनी चाहिये। इसे हम समझ के पांचवे वांछनीय गुण के रूप में भी देख सकते हैं

तथा इसे शायद हम “समष्टिनिष्ठता” का नाम दे सकते हैं, किसी बेहतर शब्द के अभाव में। क्योंकि ‘वस्तुनिष्ठता’ कहने के बाह्य जगत की वास्तविक समझ का भान होता है जिसकी कई कठिनाइयां हैं। साथ ही समझ को हम व्यक्ति विशेष के धरातल से उठा कर सभी लोगों के सांझे होने की बात भी कर रहे हैं। अतः वस्तुपरक हो चाहे न हो, संबंधित समुदाय की सांझी अवश्य हो। इस भाव को शायद “समष्टिनिष्ठता” अभिव्यक्त करती हो। (पर मेरे मन में संदेह है कि समष्टिनिष्ठता के कहीं कुछ और प्रचलित अर्थ न रहे हों। ऐसी स्थिति में कोई दूसरा शब्द ढूंढना पड़ेगा।) तो यह समझ का पांचवां गुण है :

5. समष्टिनिष्ठता (सार्वभौमिकता) सीमित अर्थों में

ये पांचों गुण समझ के विकास की दिशा तय करते हैं। इनमें पूर्णता को परिभाषित कर पाना कठिन है। यदि परिभाषित कर भी लें तो पूर्णता प्राप्त करना तो असंभव ही है। विशेष रूप से यह समस्या समष्टिनिष्ठता के साथ होती है। क्योंकि समझ का सृजक तथा धारक तो अन्ततः व्यक्ति ही रहता है। अतः उनकी समीष्टिनिष्ठता के आकलन में ही बहुत-सी कठिनाइयां पैदा हो जाती है। फिर भी इन्हें समझ की गुणवत्ता के आकलन के लिए प्रयुक्त किया जाना संभव है।

अब हम कह सकते हैं कि शिक्षा का एक उद्देश्य ऐसी समझ का विकास करना (अवधारणाओं के तंत्र का विकास करना) है जो:

1. सुस्पष्ट हो,
2. सुसंगत हो,
3. पूर्वानुमान की क्षमता रखती हो
4. आत्मावलोकन व आत्मपरीक्षण में सक्षम हो, तथा
5. समष्टिनिष्ठता लिये हो।

एक बार फिर दोहरायें कि मानवीय समता को हमने एक मूल्य के रूप में स्वीकार किया है। यह पूर्व-मान्यता इस पूरे विवेचन के आधार में है। यदि इसे स्वीकार न किया जाये तो इन निष्कर्षों पर पहुंचना लगभग असंभव होगा। दूसरी बात, संवेदनशील होना उपरोक्त प्रकार की समझ की एक आवश्यक शर्त है तथा समझ के विकास के साथ उसका विकास होता है। संवेदनशीलता पर कुछ हद तक विस्तृत विचार तो हमें आगे करना पड़ेगा। पर यहां इतना कहा जा सकता है कि इस के दो पहलू देखे जा सकते हैं। एक शारीरिक-संवेदनशीलता अर्थात् इन्द्रिय संप्रेषणों के प्रति संवेदनशील होना। इसके बिना तो समझ का उद्भव ही नहीं होगा। तथा दूसरा,

मानसिक संवेदनशीलता, जो कि दूसरों की शारीरिक व मानसिक स्थितियों की समझ की कल्पना कर पाना तथा अपने आप पर वैसा होने के प्रभावों की कल्पना कर पाना है। इसका विकास समझ से ही संभव है तथा समझ का विकास भी इस पर निर्भर करता है।

उपरोक्त बात को हमें कम से कम एक और दृष्टिकोण से देख लेना चाहिये। हालांकि यह एक तरह से पुनर्कथन होगा। सुस्पष्टता, सुसंगतता तथा समष्टिनिष्ठता, को मिला कर विवेक का नाम दिया जा सकता है। विवेक में समष्टि निष्ठता के कारण आत्मावलोकन व आत्म परिष्कार को भी समाहित माना जा सकता है। अतः कहा जा सकता है कि हम विवेकपूर्ण समझ के विकास की बात कर रहे हैं जो पूर्वानुमान में सक्षम हो। अतः अभी तक की बात के सार को हम निम्न प्रकार भी अभिव्यक्त कर सकते हैं :

1. मानवीय समता हमारा स्वीकृत मूल्य है।
2. शिक्षा का एक उद्देश्य होना चाहिये, विवेकपूर्ण समझ का विकास जो पूर्वानुमान में सक्षम हो।
3. संवेदनशीलता इस उद्देश्य की प्राप्ति की आवश्यक शर्त है। अतः इस का विकास दूसरा उद्देश्य होना चाहिए।

अभी तक हम समझ की अवधारणा तथा उसके सामान्य रूप से वांछनीय गुणों की बात करते रहे हैं। पर जगत के विभिन्न पहलू हैं। सामाजिक, सांस्कृतिक व भौतिक पहलू। प्रत्येक पहलू की हमें एकाधिक प्रकार की व्याख्याओं की आवश्यकता होती है। तभी उस का अर्थ संपूर्णता में हम ग्रहण कर पाते हैं। क्या जगत के सब पहलुओं की व्याख्या के लिए और सभी प्रकार की व्याख्याओं के लिए हम एक ही प्रकार की समझ का उपयोग करते हैं? या यों कहें, क्या संपूर्ण मानवीय समझ एक अभाज्य इकाई है या फिर इस के विभिन्न स्वरूप हैं? यह वास्तव में मानवीय ज्ञान के वर्गीकरण का प्रश्न है और शिक्षक के लिए केन्द्रीय महत्व का सवाल है।

यदि हम मानवीय समझ के संपूर्ण परास को देखें तो पायेंगे कि इसमें विभाग संभव है। कविता की समझ, भौतिकी के नियमों की समझ तथा गणित के प्रमेयों की समझ में पर्याप्त व चिन्हित की जा सकने योग्य भिन्नता है। साथ ही कविता को समझने की क्षमता से भौतिकी के नियमों को व गणित के प्रमेयों को समझने की क्षमता आ जायेगी ऐसा कहना सही नहीं लगता। पर जगत में चुनाव व कर्म करने में तो हमें ये तीनों ही (तथा और भी) प्रकार की समझ चाहिये। अतः इनमें भिन्नता के स्रोतों को समझना पड़ेगा। इस भिन्नता को विभिन्न आधारों पर समझा जा सकता है। आधारों के चुनाव विभिन्न प्रकार के वर्गीकरणों को संभव बनायेंगे। ये सभी वर्गीकरण अपने उद्देश्यों के लिए सार्थक हो सकते हैं। यहां हम शिक्षाक्रम की व शिक्षण की योजना बनाने के उद्देश्य से चल रहे हैं। अतः इस उद्देश्य को ध्यान में रख कर आधारों का चुनाव करना

होगा।

यह बात कही जा चुकी है कि समझ अवधारणाओं का तंत्र है। हम इसे अनुभव, अवधारणाओं, नियमों, सिद्धांतों आदि के रूप में सुव्यवस्थित करके संचित करते जाते हैं। अतः अवधारणायें बनानी पड़ती है। तथा नियम, सिद्धांतों आदि के वक्तव्यों की सत्यासत्यता, औचित्य आदि की जांच करनी पड़ती है।

यदि अवधारणायें बना पाने और नियमो-सिद्धांतों की सत्यासत्यता की जांच करने की क्षमताओं को प्रमुख मानें तो मानवीय ज्ञान के वर्गीकरण के ये दो आधार हो सकते हैं। इन आधारों पर श्री हर्स्ट ने मानवीय ज्ञान के विभिन्न स्वरूपों की पहचान का प्रयत्न किया है। हमारा समझ को विभिन्न वर्गों में बांटने का प्रयास मूलतः इसी तर्क पर आधारित है। पर कुछ परिवर्तन किये गये हैं। हर्स्ट ने अपने वर्गीकरण के लिए चार आधार लिये हैं जिन का भावानुवाद कुछ निम्न प्रकार हो सकता है :

1. अवधारणाओं की विशिष्टता
2. ज्ञान के क्षेत्र की तार्किक संरचना में भिन्नता
3. क्षेत्र विशेष से संबंधित वक्तव्यों में उनकी अपनी विशिष्टतायें, तथा
4. सत्यासत्य निर्धारण के नियमों में भिन्नता।

मुझे लगता है इनमें से 2 और 3 तो 1 और 4 में कही गई बात के परिणाम ही हैं। अतः मूल आधार तो दो ही (1 तथा 4) हैं। इसलिए हम यहां पर अवधारणाओं की विशिष्टता तथा सत्यापन-विधियों की विशिष्टता को ही मूल आधारों के रूप में लेकर चलेंगे।

मानवीय समझ को इसी प्रकार से वर्गीकृत करने का एक प्रयत्न श्री पी. एच. फेनिक्स का भी है। वे इन्हें 'अर्थ के क्षेत्र' कहते हैं। अलग-अलग पहचान के लिए "विशिष्ट विधियों, प्रमुख विचारों तथा अभिलाक्षणिक संरचनाओं" को आधार मानते हैं। स्पष्ट ही विशिष्ट विधियां खोज व सत्यापन की विशिष्ट विधियां हैं, प्रमुख विचार विशिष्ट अवधारणाओं तथा अभिलाक्षणिक संरचनाओं से तात्पर्य स्वरूप विशेष की तार्किक संरचना ही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हर्स्ट एवं फेनिक्स के वर्गीकरण के आधारों में पर्याप्त समानता है। आगे वर्गीकरणों में भी समानतायें हैं। पर पर्याप्त भिन्नतायें भी हैं। यहां पर हम हर्स्ट के वर्गीकरण के अधिक नजदीक रहेंगे पर समय-समय पर फेनिक्स के विचारों का स्पष्टता के लिए उपयोग करते रहेंगे।

जिस क्रम में समझ के स्वरूपों पर विचार किया गया है, वह किसी अनम्य अर्थ में उनके महत्व का परिचायक नहीं हैं, मूलतः तार्किक क्रम है। (अगले अंक में जारी) ◆